जीवन वेद

श्रीश्री आनन्दमूर्ति

Jiivan Ved

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय कार्यालय) द्वारा
सर्वस्वत्व संरक्षित आनन्दनगर, पो० बागलता,
पुरूलिया, प० बं०

रजिष्टर्ड ऑफिस : आनन्दनगर, पो० बागलता,
जिला - पुरूलिया, प० बं०

सम्पर्क कार्यालय : ५२७ वी० आई० पी० नगर
कोलकाता - ७००१००

प्रथम संस्करण : ३१ मई १९६१ ई०

नवम संस्करण : १ जनवरी, १९९९ ई०

दशम मुद्राङ्कन : ५ मार्च, २००० ई०

द्वादश मुद्राङ्कन : डिसेम्बर, २०२०

प्रकाशक : आचार्य मन्त्रेश्वरानन्द अवधूत
(केन्द्रीय प्रकाशन सचिव)
आनन्दमार्ग प्रचारक संघ
कोलकाता ७००१००

मुद्राकर : आचार्य अभिव्रतानन्द अवधूत
आनन्द प्रिण्टार्स
३/१सि, मोहनवागान लेन
कोलकाता - ७००००४

ISBN : 978-81-7252-321-3

मूल्य : २५.०० रुपए मात्र

सूची पत्र

जीवन वेद यम-साधना अहिंसा

सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह

हम समाज में कैसे रहें ? नियम-साधना

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय

ईश्वर-प्रणिधान

चरम निर्देश

"जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करते हैं , मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उनके मन में अवश्य ही जगेगी और निश्चित रूप से उनकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रतयेक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी - यही है परमपुरुष का निर्देश । यम - नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम - नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि - कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी भी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकार शाश्वती शान्ति लाभ करें , इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्दमार्ग के कल्याण - पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्त्तव्य है । दूसरों को सत्पथ का निर्देशन करना साधना का ही अंग "

श्री श्री आनन्दमूर्ति

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ৠ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ	
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah	

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṇa	ca	cha	ja	jha	iṇa

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
́ta	́tha	́da	́dha	́na	ta	tha	da	dha	na

प फ ब भ म
প ফ ব ভ ম
Pa pha ba bha ma

य र ल व
য ऱ ল ব
ya ra la va

श ष स ह क्ष
শ ষ স হ ক্ষ
sha śa sa ha kśa

अँ ज्ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं
অঁ জ্ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোঽহং
aṇ jiṇa rśi cháya jiṇána samśkrta tato'haṁ

a á b c d ḍ e g h i j k l m ṁ n
ṅ ṇ o p r s ś t ṭ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २९ अक्षर

मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना

सम्भव है । इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है । अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं । शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं । ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं । प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

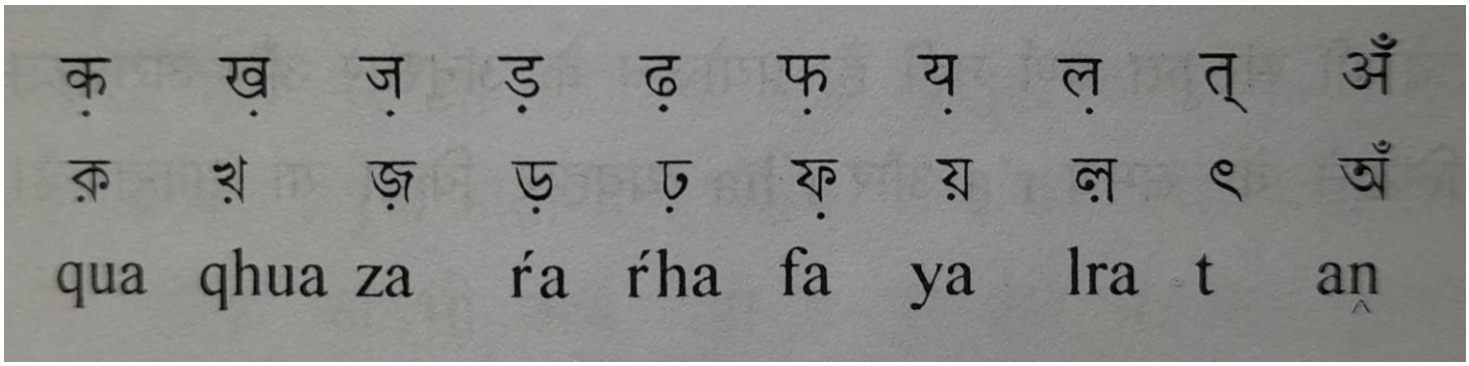

जीवन वेद

नैतिकता साधना की आधारभूमि है । पर यह याद रखना चाहिए कि नैतिकता साधना का चरम लक्ष्य नहीं है और नीतिवादी (Moralist) होना दूसरों के लिए भले ही चरम आदर्श हो, पर एक साधक के लिए जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण अवस्था नहीं है । साधना के प्रारम्भ में ही मानसिक सामञ्जस्य की आवश्यकता होती है। इसी मानसिक सामञ्जस्य का नाम नैतिकता या Morality है ।

बहुत बार लोग कहते हैं, मैं धर्म-कर्म कुछ नहीं समझता, सत्य पथ पर रहूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा-बस

इतना ही यथेष्ट है और इससे अधिक कुछ करने की या सीखने की आवश्यकता नहीं नैतिकता सामञ्जस्यपूर्ण जीवन बिताने का प्रयत्न है। इसे स्थिर शक्ति कहने की अपेक्षा गतिशील शक्ति कहना कहीं अधिक ठीक होगा, क्योंकि, इससे प्रतिक्षण अपने अन्दर के विरोधी भावों के विरुद्ध लड़कर बाहरी साम्य ठीक रखना पड़ता है । यह अन्तर और बाहर की साम्यावस्था नहीं है। बाहर के प्रलोभन में पड़कर यदि भीतरी असाम्य खूब बढ़ जाय और इस कारण मानसिक विकृति उग्रभाव से दीख पड़े, तो लड़ने की भीतरी शक्ति भी हार सकती है और फलस्वरूप बाहरी साम्य या दिखावटी नैतिकता किसी भी क्षण टूट सकती है ।

इसलिए नीतिवाद कोई लक्ष्य तो नहीं ही है, कोई स्थिर शक्ति भी नहीं है । नीतिवादी की नीति तो किसी भी क्षण नष्ट हो सकती है । जो नीतिवादी दो रुपये घूस का लोभ रोक सका है, वह दो लाख रुपये का भी लोभ रोक सकेगा, यह बात दृढ़तापूर्वक नहीं कही जा सकती । इतना होने पर भी मनुष्य के जीवन में नीतिवाद एकदम मूल्यहीन नहीं है। नीतिवाद एक अच्छे नागरिक का लक्ष्य है और साधनामार्ग की तो यहाँ से यात्रा प्रारम्भ होती है । नैतिक आदर्श ऐसा होना चाहिए जिससे मनुष्य को साधना

मार्ग में चलने का सामर्थ्य भी मिले तथा प्रेरणा भी । यों तो नीतिवाद में देश, काल एवं पात्र सम्बन्ध से विभिन्नता सम्भव भी हो सकती है, क्योंकि नीतिवाद देश-काल-पात्र के सामञ्जस्य रखने के प्रयत्न पर निर्भर

करता है, किन्तु नीतिवाद का चरम लक्ष्य है ब्रह्म-संप्राप्ति और इसीलिए उसमें आपेक्षिकता का दोष तो किसी भी तरह सम्भव नहीं है । चोरी न करना ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता ; चोरी करने की प्रवृत्ति का नष्ट होना बड़ी बात है । झूठ बोलना चरम लक्ष्य नहीं; मन से मिथ्यावाद दूर हो जाय, यही बड़ी बात है । साधक की यात्रा का मार्ग नीतिवाद के उस प्रारम्भिक रूप से शुरू होता है, जहाँ झूठ नहीं बोलना, चोरी न करना, आदि उसका आधार होता है, परन्तु इस नीतिवाद का अन्तिम लक्ष्य रहता है वह ब्राह्मी स्थिति, जहाँ चोरी की इच्छा नहीं रह जाती, मिथ्याभाव ही दूर हो जाता है ।

आनन्दमार्ग की साधना में इसी ब्राह्मी आदर्श को सामने रखकर पहले नीतिशिक्षा दी जाती है, क्योंकि,

नीति शिक्षा के बिना साधना असम्भव है नीति के बिना साधना मनुष्य को बार-बार भोग | की ओर ठेल देना चाहेगी और किसी भी क्षण उसके बड़े कष्ट से पायी हुई मानसिक शक्ति छोटी तुच्छ भोग सिद्धि के लिये ध्वंसात्मक कार्य में लिप्त हो सकती है। योगभ्रष्ट या तन्त्रभ्रष्ट अनेक व्यक्ति इसी प्रकार का कलंकित जीवन व्यतीत कर रहे हैं । बलपूर्वक अपनी प्रवृत्तियों का दमन कर वे जो कुछ साधारण सम्पद प्राप्त करते हैं, वह भी भोग की एक चपेट में, एक क्षण की भूल में ही खो बैठते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि साधना आरम्भ करने के पहले से ही सत् नीति अपनानी होगी । जो नीति नहीं अपनाता वह साधना मार्ग में आकर अपना तथा देश का अहित न करे ।

आचार्यों ने ऐसी घटना अवश्य देखी होगी कि स्वार्थ में अन्धे लोग इस नीति को मानने के डर से आनन्दमार्ग से ही डरते हैं अपनी क्षुद्र स्वार्थसिद्धि में असुविधा होगी, यह सोचकर मार्ग के प्रचार से शंकित हो उठते हैं और अपनी असाधुता तथा दुर्बलता को छिपाने की कोशिश में मार्ग की निन्दा करते हैं। किन्तु यह जान रखो कि जिसमें नीतिज्ञान नहीं है, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। वह कितनी भी कोशिश क्यों न करे, पर बड़ी-बड़ी बातों की आड़ में अपने मन की मलिनता को अधिक दिन ढँक कर नहीं रख सकता ।

सूची पत्र

यम-साधना

नीतिवाद की पहली शिक्षा है यम-साधना । इस साधना के एक-एक अंग के सम्बन्ध में आज कुछ कहूँगा । यम के पाँच अंग हैं ।

'अहिंसासत्यास्तेयं ब्रह्मचर्योऽपरिग्रहाः यमः ।"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच अङ्ग विभिन्न पद्धतियों से साधक को संयम की शिक्षा देते हैं । 'संयम' शब्द का अर्थ है नियंत्रित व्यवहार । यह बात अच्छी तरह से याद रखो कि संयम का अर्थ किसी का हत्या करना अथवा किसी को नष्ट करना नहीं है ।

अहिंसा

"मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामपीड़नमहिंसा ।"

मन. वाक्य और शरीर के द्वारा किसी को पीड़ा, कष्ट न पहुँचाने को ही अहिंसा कहते हैं ।

इस 'अहिंसा' शब्द का अर्थ लेकर बहुत लोग बहुत तरह की भूलें कर बैठते हैं। कोई कोई पंडित तो 'अहिंसा' शब्द की इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि जिसका ठीक-ठीक व्यवहार करने से घर द्वार में रहने की बात दूर रही, वन-जंगल या पर्वत की गुफाओं में

भी रहना असम्भव हो जायेगा। इस 'अहिंसा' शब्द का इस तरह का अर्थ मानने से किसी की हत्या करने की बात तो दूर, शत्रु के ऊपर भी आघात नहीं किया जा सकता । हल चलाने से पृथ्वी के नीचे कितने कीड़ों की, कितने प्राणियों की मृत्यु होने की सम्भावना रहती है, अतः वह भी नहीं चल सकता। ऐसे पंडित कहते हैं कि जो द्विज धार्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, वे प्राणी हत्या से बचने के लिए स्वयं हल न चलाकर, शूद्रों से हल चलवा कर खेती करें । मनुष्य को भोजन मिले या न मिले, चीटियों के बिलों में चीनी डालनी `चाहिए । अथवा मनुष्य जाति के जन्मजात शत्रु खटमलों को बचाने के लिए दरिद्र को अपने स्वस्थ शरीर का खून पिलाना चाहिए ।

किन्तु यह अहिंसा की व्याख्या नहीं, अपव्याख्या है। यह वास्तविक धर्म के विरुद्ध है -जीवधर्म के विरुद्ध है । तुम्हारे सांस लेने और छोड़ने की क्रिया में असंख्य जीवाणु आते-जाते हैं। वे भी तो सभी जीवित प्राणी है। तब तो उनको बचाने के लिए तुम्हे श्वास-प्रश्वास क्रिया भी बन्द कर देनी होगी। रोगी-शरीर को अनेक प्रकार के विषकारक कृमि, अणुजीवसमूह से मुक्त करने के लिए

औषधि सेवन भी बन्द कर देना होगा। 'अहिंसा' का इस प्रकार का अर्थ यदि लिया जाय, तो भला ऐसा अर्थ बतानेवाले ठहरेंगे कहाँ ? उनको तो विशुद्ध जल भी पीना छोड़ देना होगा, क्योंकि जल को साफ करने के क्रम में कितने ही प्रकार के दूषित जीवाणुओं की मृत्यु हो जाती है। और, वे बिना साफ किया पानी भी नहीं

पी सकते, क्योंकि पेट में जाने के बाद जल में छिपे हुए जीवाणु सम्भव है मर जाएँ ।

भारतवर्ष में वेदिक युग के बाद बहुत दिनों तक इस प्रकार की अहिंसा का प्रचार था, जिसके कारण साधारण लोगों का जीना कठिन हो गया था । अहिंसाप्रधान धर्म को, साधारण जनता भय की दृष्टि से देखने लगी थी और अन्त में धर्मपथ को छोड़कर नास्तिक मत स्वीकार करने को बाध्य हो गई थी। नीतिज्ञान के रहित, अपने स्वार्थ को सब कुछ समझने वाले नास्तिक, समाज तथा दुनियाँ के लिए बोझ हो गये थे और जो इस तथाकथित अहिंसा धर्म को बलपूर्वक पकड़कर रखने वाले थे, वे वास्तविकता से विमुख और स्वभाव से क्लीव समझे जाते थे । पुराने इतिहास के इस तथ्य को आज के युग में नये रूप से

विचार कर देखने की आवश्यकता है। इसके बाद एक और युग आया था, जिसमें साधारण जनता में अहिसा की, एक और नई तरह की व्याख्या का प्रचार हुआ । इस व्याख्या के अनुसार जीव को किसी प्रकार का कष्ट देना तो हिंसा था, पर खाने के लिए पशुओं की हत्या करना हिंसा में नहीं गिना जाता था । इस विचार में बहुत बड़ी त्रुटि है। कष्ट देने मात्र को ही यदि हिंसा कहें, तो खाने के लिए भी पशुओं की हत्या हिंसा कही जायेगी, क्योंकि इसके लिए भी पशु हँसते हुए बलिकाठ (यूपकाष्ठ) में अपना सिर नहीं देते ।

आजकल हिंसा की और नई व्याख्या सुनी जाती है, जो प्रायः दूसरी व्याख्या से मिलती जरूर है। परन्तु दूसरी व्याख्या में जो सरलता और निष्ठा मालूम होती है, इसमें वह भी नहीं है । इसमें भी अहिंसा का अर्थ

Non-violence अर्थात् 'शक्ति का प्रयोग न करना' माना गया है। सम्भवतः इस प्रकार की व्याख्या में ही 'अहिंसा' शब्द का सबसे अधिक दुरुपयोग किया गया है। संसार के छोटे बड़े सब कामों में जीव को प्रतिकूल भाव के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करके आगे बढना होता है । शक्ति के इस प्रयोग के माध्यम से ही जीवन का प्रकाश प्रकट होता है। यदि यह शक्ति संप्रयोग न हो तो, जीवन जड़ता के अंधकार मे खो जाएगा । परन्तु कोई बुद्धिमान मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसकी गति के धर्म के विरुद्ध है ।

इसके फलस्वरूप Non-violence (अचण्डता) अर्थ वाली तथाकथित अहिंसा के मतवाद को किसी दूसरे गूढ़ उद्देश्य में प्रयोग करने के लिए, ऐसे अहिंसावादियों को कदम-कदम पर ढोंग करना पड़ता है, कपटाचरण

का आश्रय लेना पड़ता है। किसी देश के लोग यदि दूसरे देश को बलपूर्वक जीत ले इस अवस्था में हारे देश के लोग शक्ति का प्रयोग करके अपनी स्वाधीनता प्राप्त करेंगे । शक्ति का प्रयोग स्थूल भी हो सकता है, सूक्ष्म भी, और इसके फलस्वरूप आक्रमणकारी का शरीर और मन दोनों आहत हो सकते हैं। इसमें आघात तो होगा ही और जब आघात होगा ही, तब उसे किसी तरह भी Non-violence (अचण्डता) नहीं कह सकते हैं। हाथ से न मार कर पेट पर मारना क्या violence (चण्डता) नहीं है ? देश-विदेश या जाति विशेष के विरुद्ध बायकाट आन्दोलन क्या violence नही है ? इसी से कहते है Non-violence (अनण्डता) और अहिंसा को एक समझने से उस अहिसा नीति का समर्थन करने के लिए बार- बार ढोंग करना पड़ता है। देश के शासन के लिए पुलिस या सेना की आवश्यकता

पड़ने पर भी बल का प्रयोग न करे, तो उनका अस्तित्व ही निरर्थक हो जाए । बन्दूक की गोली में तथाकथित अहिंसा की मोहर मार देने से ही तो गोली Non-violent (अचण्ड) नहीं हो जाती

अत्याचारी का प्रतिकार करने के लिए जितनी शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता हो, उतनी शक्ति जिसकी न हो उसके लिए. यही उचित है कि वह सब तरह से शक्ति सञ्चय करने में लग जाए और जो शक्ति पाये उसका उचित रीति से व्यवहार करे । शक्ति नहीं, शक्ति सञ्चय करने के लिए साधना भी नहीं, पर अपनी इस सारी दुर्बलताओं को शत्रुओं के सामने स्वीकार नहीं करने के उद्देश्य से. अपने को अहिंसक कहने से कोई कूटनीतिक उद्देश्य भले ही सिद्ध

हो, परन्तु उससे साधुता की मर्यादा की रक्षा नहीं हो सकती।

साधना जगत में अहिंसा का अर्थ जो लिया जाता है, वह तो पहले ही कह चुका हूँ । इस अर्थ के अनुसार तुम्हें सदा ही सावधानी से सोच-विचार कर चलना होगा, जिससे तुम्हारे विचारों से अथवा कार्य से कोई पीड़ित न हो, किसी पर अत्याचार न हो । तुम्हारे जिस किसी विचार के, कार्य के पीछे, किसी को तकलीफ देने का भाव हो, तो वह हिंसा है। जीव देह धारण करने में तो जीव हत्या होगी ही, इसमें किसी को पीड़ा पहुँचाने की इच्छा हो या न हो; साँस लेने और छोड़ने में ही तो हजारों- हजार जीवाणु मरते है। तुम्हारी स्थूल देह ही तो हजारों-हजार जीव-कोषों से मिलकर बनी है। तुम जानो या न जानो, शरीर के प्रत्येक काम के फलस्वरूप

हर क्षण वे मरते हैं और नष्ट होते हैं। शरीर को निरोग रखने के लिए तुम जो दवाइयाँ खाते हो उनसे लाखों-लाख रोग के कीटाणुओं को खत्म करते हो, हत्या करते हो। कीड़े मकोड़े, फसल नष्ट करने वाले पशु, खटमल, मच्छड़ आदि जीवों की न जाने कितनी प्रकार से हत्या करते हो । यह तो तुम देह धारण के लिए करते हो ; इसके पीछे दूसरों को कष्ट देने की इच्छा नहीं है। इसलिए यह काम भी हिंसा नहीं है। देह की रक्षा करने के लिए यह सब तो करना ही पड़ेगा ।

जीव-देह की सृष्टि, पालन और विनाश में प्रतिक्षण जीव देह का संघटन और विघटन होता रहता है। तुम जो भात खाते हो वह भात जिस धान से हुआ, क्या उसमें जीव नहीं है ? उसमें भी अंकुर निकले हैं, वंश-वृद्धि का सामर्थ्य तो उसमें भी है; किन्तु देह की रक्षा

करने के लिये तुम ने उस धान की हत्या कर चावल तैयार किया। परन्तु चावल बनाने के समय तुम्हारे मन में क्या किसी को पीड़ित करने का विचार था ? इस तरह देखते हो कि प्राणी का भोजन प्राणी ही है, यहाँ पर हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता ! यदि उठे, तो जीव को ईंट, बालू, पत्थर खाकर रहना पड़ेगा । श्वास-प्रश्वास की क्रिया छोड़ देनी होगी, अर्थात् आत्महत्या करनी होगी ।

परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि खाद्य ग्रहण करने के समय दो विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात जहाँ तक सम्भव हो ऐसे ही चीजों से खाद्य चुना जाय, जिसमें चैतन्य का विकाश कम हो ; अर्थात् शाक-सब्जी मिलने से पशु हत्या न की जाय । दूसरी बात किसी भी अवस्था में खाने के लिए किसी

जीव की, चाहे वह विकशित चैतन्य हो या अविकशित चैतन्य, हत्या करने के पहले विचार कर देख लेना होगा कि इसकी हत्या किये बिना भी हम स्वस्थ शरीर से जीवित रह सकते हैं या नहीं ।

मनुष्य का शरीर असंख्य जीव-कोशों से मिलकर बना है. ये जीव-कोश अपने अनुकूल जीवित सत्ता पाकर पुष्ट होते हैं और बढ़ते हैं। इसीलिए तुम जैसा भोजन करोगे, उसी के अनुकूल तुम्हारे जीव- कोशों का स्वभाव बनता रहेगा और अन्त में उन सबका मिलकर तुम्हारे मन पर भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा ही। इसीलिए यदि गले पचे, दुर्गन्धयुक्त, जीव-युक्त वस्तु से या ताजा पशु मांस से जिससे हीन वृत्ति ही प्रबल रहती है. अपने शरीर के कोशों का निर्माण करो तब तो तुम्हारे मन में हीन वृत्ति की प्रबलता स्वाभाविक ही

हे। इससे हिंसा और अहिंसा का प्रश्न न रहने पर भी बिना सोचे बिचारे 'जो पाओ सो खाओ' की नीति का समर्थन नहीं किया जा सकता। जैसा मन में आये वैसा करना, यह तो कोई नीति नहीं है। नीति तो सोच-विचार कर निर्धारित किया जाता है। अतः शरीर धर्म का पालन करने के लिए भोजन के सम्बन्ध में तुम्हें एक नीति निर्धारित कर चलना ही होगा । नहीं तो यह काम अपरिग्रह की नीति के विरुद्ध होगा । अपरिग्रह क्या है ? यह बाद में समझाया जायेगा ।

हिंसा और शक्ति का प्रयोग दोनों एक चीज नहीं है। लेकिन कहीं-कहीं शक्ति के प्रयोग का फल हिंसापूर्ण हो उठता है, यद्यपि वहाँ पीड़ा पहुँचाने का विचार मन में नहीं रहता : परिस्थिति के दबाव में पड़कर जिन लोगों के विरुद्ध इस प्रकार का बल (जिसका परिणाम

हिंसापूर्ण होता है) प्रयोग किया जाता है उन्हें संस्कृत में 'आततायी' कहा जाता है ।

"क्षेत्रदारापहारीच शस्त्रधारीधनापहाः ।

अग्निदगरदचैव षडेते ह्याततायिनः ॥ "

अर्थात् जो बलपूर्वक तुम्हारी जमीन, जायदाद पर अधिकार करना चाहता हो, जो तुम्हारी पत्नी का अपहरण करना चाहता हो, जो शस्त्र लेकर तुम्हारी हत्या करने आया हो, जो तुम्हारा धन लूटना चाहता हो, उसे आततायी कहा जाता है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति या राष्ट्र की तरफ से कोई किसी दूसरे राष्ट्र का पूरा या उसका कोई हिस्सा दखल करना चाहे, तो उस आक्रमण करने वाली शक्ति का शस्त्र के साथ सामना करना, अहिंसा नीति के विरुद्ध नहीं है। बल्कि ऐसी अवस्था में अहिंसा-नीति की गलत व्याख्या करने

से अर्थात्, हिंसा और शक्ति के प्रयोग को एक समान लेने से जनसाधारण को दीर्घकाल तक धन हानि, मनस्ताप और अन्यान्य बहुत तरह के दुख- कष्ट भोगने पड़ते हैं ।

अनेक अवसरों पर बहुत लोग किसी कुसंस्कारी मनुष्य को युक्ति से न समझा कर ऐसी बात करते हैं, जिससे उसके मन पर चोट पहुँचती है । इतिहास के पृष्ठ उलटकर देखो. बार-बार मूर्ति- पूजा के विरोधियों ने उन सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों को तोड़ कर नष्ट किया हैं, जो शिल्पकला के अपूर्व उदाहरण थे । मनुष्य के मन की सौन्दर्य- कल्पना, शिल्प-कला की पराकाष्ठा जिन सुन्दर मूर्तियों में प्रकट हुई, उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ऐसे काम अत्यन्त हिंसामूलक हैं, क्योंकि इसमें मूर्त्ति-पूजको के मन में बहुत बड़ी चोट लगती है। और

इसके फलस्वरूप वे मूर्तिपूजा को मन ही मन व्यर्थ समझते हुए भी, जिद के कारण मूर्त्ति को जकड़ रखना चाहते हैं । और फलतः केवल उनको ही आध्यात्मिक उन्नति में बाधा नहीं होती, बल्कि समूचे मानव समाज की अग्रगति में बाधा पड़ती है। याद रखो, यदि किसी देश में शत-प्रतिशत मनुष्य निराकारवादी हो, अर्थात् मूर्त्ति-पूजक एक भी न रहे, तो वैसी अवस्था में भी ब्रह्मचर्य साधक उस मूर्ति को, वस्तु के उचित व्यवहार के लिए, यत्नपूर्वक अजायबघर (Mu- seum) में सुरक्षित रखेंगे, किसी भी प्रकार उसे नष्ट नहीं करेंगे । कला को नष्ट करने से मनुष्य के मन में जो सूक्ष्म रस बोध है, वह भी तो नष्ट हो जाता है और यह किसी भी तरह उचित नहीं है।

शिखा अथवा जनेऊ के लिए जिनके मन में मोह है, उनका मन जड़ वस्तु में लगा रहने के कारण उसकी साधना की अग्रगति में अवश्य बाधा होगी। यदि कोई जबर्दस्ती उनकी शिखा या जनेऊ हटा देना चाहे, उससे क्या कोई खास लाभ होगा ? नहीं, उससे तो उसका मन शिखा और उपवीत की चिन्ता में इतना फँसा रहेगा कि वह ठीक तरह से ब्रह्म साधना के लिए भी समय नहीं पा सकेगा । इससे अच्छा तो यह होगा कि ब्रह्म भावना करते-करते जब मन वृहत् के भाव में व्याप्त होता जायेगा, तब उसके मन से शिखा और सूत्र की संकीर्णता अपने आप हट जायेगी और ऐसी अवस्था में शिखा- सूत्र सचमुच में छोड़ना उनके लिए सम्भव होगा ।

यमसाधना के अहिंसा अंग को अब तो निश्चय ही अच्छी तरह समझ गये होगे। अब कहां तो माँ-बाप जो बच्चों को पीटते हैं. वह हिंसा है या अहिसा ? नहीं, वह हिसा नही है, क्योंकि वहाँ पीड़ा या कष्ट देने की इच्छा एकदम नहीं है वहाँ रुलाकर कष्ट देने का उद्देश्य जरा भी नहीं हैं : बल्कि सुधार करने का ही भाव रहता है । नोर, डकैन, साधु, मित्र या और किसी के विरुद्ध सच्ची भलाई की भावना लेकर, जो संशोधन के लिए व्यवस्था की जाय, वह उपरी दृष्टि से चाहे कितनी भी क्यों न कठोर दीख पड़े. पर वह हिंसा नहीं कही जा सकती है। अब समझ गये होगे कि व्यवहारिक जीवन में सन्नी अहिसा को मान कर चलना बिलकुल कठिन नहीं है ।

मांसाहार अत्यन्त लोभ प्रकट करता है। विशेषकर उन ग्रीष्म प्रधान देशों में जहाँ साग-सब्जी खूब पायी

जाती है मांसाहार आत्यन्तिक लोभ छोड़ कर और कुछ भी नहीं है । परन्तु चिकित्सक के कहने पर रोग छूट जाने के बाद पथ्य के रूप में अथवा दवा बनाने के साधन के रूप में आमिष का व्यवहार हिंसा अथवा लोभ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वहाँ हिंसा या लोभ की वृत्ति से स्वीकार नही किया जाता। यह काम तो केवल जीवित रहने के लिए किया गया है । हिम प्रधान देशों में इसी आवश्यकता से लोग पशुओं का मांस खाते हैं, पशुओं का नमड़ा पहनते है और पशुओं की चर्बी से दिए जलाते हैं

आततायी के विरुद्ध संग्राम करने से ही पौरुप का पता चलता है। रामायण महाकाव्य की ओर देखो-यहाँ राम ने पत्नी का हरण करने वाले रावण के विरुद्ध हथियार लेकर आक्रमण किया था. प्रबलरूप में बल

प्रयोग किया था। उनका यह कार्य किसी भी दशा में अहिंसा के नीति के विरुद्ध नहीं था, क्योंकि उन्होंने पीड़ा देने अथवा देश जीतने के उद्देश्य से तो लंका पर आक्रमण किया नहीं था।

महाभारत की ओर देखो-वहाँ महापुरुष श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को कौरवों के विरुद्ध सशस्त्र संग्राम के लिए उत्साहित किया था, क्योंकि कौरव थे भूमि-अपहरण करने वाले आततायी ।

श्रीमत् महाप्रभु धर्म तथा सामाजिक जगत् के अन्यतम विप्लवी नेता थे वे प्रेम के अवतार थे। उन पर तो हिंसा नीति अपनाने का दोष लगाने का साहस कोई नहीं करेगा। पर वे भी अत्याचारो काजी पर सिंह

के समान कूद पड़े थे। हिंसा और शक्ति-संप्रयोग यदि एक ही चीज होती तो करुणामय महाप्रभु निश्चय ही वैसा नहीं करते ।

आततायी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना ही पौरुष है और नहीं करना ही क्लीवता है । परन्तु कमजोर व्यक्तियों को अपने से बलवान आततायी से भिड़ने के पहले ही अपनी शक्ति की परीक्षा कर लेनी चाहिए । नहीं तो अपनी कमजोरी दूर किए बिना ही भिड़ जाने से उस समय तो अन्याय की ही जीत हो जाती है। इतिहास में इस प्रकार की भूल को 'राजपूतों की निर्बुद्धिता' (Rajput folly) कहते हैं। मुगल आक्रमणों का सामना करने के लिए राजपूत हमेशा ही साहस के साथ आगे बढ़े थे । वे वीरता के साथ लड़ाई में लड़े-इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अपनी शक्ति की

परीक्षा किए बिना ही लड़ाई में उतर जाते थे उनलोगों में आपस में तरह-तरह के भेद तथा भीतरी कमजोरियाँ थीं। इसलिए लड़ाई में वे हारते थे तथा वीरों की तरह मृत्यु को वरण करते थे ।

इसलिए आततायी के विरुद्ध संग्राम करने के पहले उपयुक्त शक्ति का संचय करना उचित है। आततायी का स्वभाव सुधारने के पहले ही उसे क्षमा करने का अर्थ है अन्याय को बढ़ावा देना । जहाँ देखो कि शक्ति का प्रयोग चाहे तुम न करो, आततायी तुम्हें नष्ट करेगा ही, उस समय शक्ति संचय के लिए न ठहर कर, अपनी पूरी ताकत से प्रहार करके ही मरना उचित है ।

सूची पत्र

सत्य

'सत्य' शब्द का अर्थ है "परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्" अर्थात् दूसरे की भलाई के उद्देश्य से वाक्य और मन का जो यथार्थ भाव है, उसी का नाम है सत्य । याद रखना चाहिये कि 'सत्य' शब्द के लिए अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। अंग्रेजी में जिसको True या Truth कहते हैं, संस्कृत में उसे 'ऋत' कहते हैं। साधक को ऋत का पालन करने के लिए नहीं कहा

जाता । सत्य का अनुसरण करने के लिए कहा जाता है।

सत्य के व्यावहारिक अंश का आधार है आपेक्षिकता । परन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रतिष्ठा होती है उस परम ब्रह्म पारमार्थिक सत्य में इसलिए ब्रह्म को सत्यस्वरूप कहा जाता है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" । यद्यपि साधक का लक्ष्य वही पारमार्थिक सत्य है, किन्तु उस साधक को जीवन में सदा आपेक्षिकता लेकर कारोबार करना पड़ता है । मनुष्य विचार करने वाला जीव है, इसलिए जहाँ जैसा करना उचित है अथवा जैसा करने से मनुष्य का कल्याण हो वैसा करने का सामर्थ्य कुछ न कुछ हर मनुष्य में है। साधना जगत में वैसा ही कुछ करने, बोलने या विचार करने को सत्य कहा जाता है ।

मान लो, कोई मनुष्य डर से दौड़ता हुआ तुम्हारे पास आया। वह दोषी है या निर्दोष तुम्हें नहीं मालूम था, तुम जानते हो कि वह निर्दोष है। उसके पीछे-पीछे उसको दण्ड देने के लिए एक भयानक शक्तिशाली मनुष्य आता है । अब यदि वह डरा हुआ आदमी तुम्हारे घर में छिपे और वह भयानक स्वभाव का मनुष्य तुम्हारे पास आकर पूछे कि अमुक आदमी कहाँ गया है-उस समय तुम क्या करोगे ? ऋत (Truth) को मानने से तो यहाँ कहोगे कि–देखो उस जगह पर छिपा हुआ है। इसके बाद अगर वह भयानक प्रकृति का मनुष्य उसकी हत्या करे तो क्या तुम भी उस हत्याकाण्ड में हिस्सेदार नहीं ठहरते हो ? तुम्हारी भूल से ही सम्भव है एक निरपराध मनुष्य मारा गया । ऋत (Truth) को मानने से तुम हत्या के अपराधी हुए।

किन्तु 'सत्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ मानने से यहाँ तुम्हारा कर्त्तव्य क्या होगा ? तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उस मनुष्य का पता न देकर उसकी भलाई के लिए उस आक्रमणकारी को उल्टा रास्ता दिखा देना; जिससे आश्रित मनुष्य निर्भय होकर सुरक्षित स्थान को लौट जा सके ।

मान लो, तुम्हारी माँ खाने बैठी है। चिट्ठी आई की तुम्हारे मातामह की मृत्यु हो गई है। चिट्ठी के विषय में यदि पूछे तो तुम क्या कहोगे ? यदि ऋत को मानो तो माँ को उनके पिताजी की मृत्यु का भारी धक्का तो लगेगी ही, साथ उनका भोजन भी नष्ट होगा । यहाँ तुम्हारे लिए तो यही अच्छा होगा कि तुम कह दो कि ननिहाल में सब लोग कुशल से हैं। माता जी जब भोजन कर ले तब पहले मातामह की बीमारी की बात

सुनाकर उनके मन को शोक की बात सुनने के लिए कुछ हद तक तैयार कर लो, उसके बाद मातामह की मरने की बात सुनाओ। इसमें पहले तो बहुत झूठी बातें अपनानी पड़ी, किन्तु इसके फलस्वरूप सत्य का ही पालन हुआ ।

सूची पत्र

अस्तेय

“परद्रव्यापहरणत्यागोऽस्तेयम् ।"

दूसरे की नीज दखल न करने का नाम ही अस्तेय है अर्थात् 'अस्तेय' शब्द का अर्थ ही है अचौर्य-चोरी न करना। यह चोरी करना चार प्रकार का होता है :-

१. स्थूलभाव से किसी की चीज चोरी करना । साधारण भाव से इसी स्थूल नौर्य को लौकिक भाषा में चोरी कहा जाता है। रुपया- पैसा या चीज चुरा कर भाग जाना या हथियार लेकर डकैती करके लूट ले जाना ही चोरी नहीं है । शरीर के बल से, हथियार के बल से या बुद्धि के बल से दूसरे का नाहे रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद या और कुछ भी दखल करो वह सब चोरी ही है। कारण, उससे दूसरे की चीज ठग कर दखल करने की वृत्ति तो होती ही है । न्यायसंगत रीति से किसी से नीज के बदले चीज बदल करना जैसे रुपये के साथ जमीन, रुपये के साथ चावल, दाल,

सोना, चाँदी आदि बदलना चोरी के अन्दर नहीं गिना जाता ।

२. चोरी का दूसरा भेद यह है कि तुमने स्थूल भाव से तो किसी की कोई चीज नहीं ली. किसी जमीन-जायदाद आदि नहीं हथिया ली, किन्तु मन ही मन वैसा करने का विचार किया । तब वह भी चोरी ही समझी जायेगी, क्योंकि पुलिस के डर से या बदनामी के डर से तुमने यहाँ स्थूल भाव से चोरी तो नहीं की, परन्तु तुम्हारे भीतर के मनुष्य ने तो चोरी की है ।

३. सम्भव है तुम किसी की चीज नहीं चुराते किन्तु यदि दूसरे को जो उचित रीति से मिलना चाहिए, जो

उसका उचित पावना है उससे उसको वंचित करते हो तो उसकी हानि के कारण तुम हुए। यह भी चोरी है ।

४. यदि किसी को न्यायोचित पावना से तुम वंचित नहीं भी करते हो पर मन ही मन वैसा करने की कोशिश करते हो तो वह भी चोरी है ।

तीसरी और चौथी तरह की चोरी के बारे में समझाता हूँ। तुम लोगों ने देखा होगा कि बहुत से पढ़े लिखे लोग भी बिना टिकट लिए रेल यात्रा करते हैं। इसने रेलवे के अधिकारियों से सीधा-सीधा तो नहीं चुराया, किन्तु रेलवे के अधिकारियो का जो उचित पावना है, उससे बंचित करते हैं । जरा बिचार कर देखने से मालूम होगा कि रेलवे के अधिकारियों का

यात्रियों से सम्बन्ध लेन देन की तरह का ही है और इसीलिए बिना टिकट की यात्रा करना तीसरी और चौथी तरह की चोरी है । जो गाड़ी पर चढ़ते हैं वे रेलवे अधिकारियों से सेवा लेते हैं। टिकट का दाम चुकाकर उन्होंने उस सेवा का मूल्य पाई-पाई चुका दिया और उसके फलस्वरूप रेलवे अधिकारी कभी नहीं कहते कि हमने अमुक व्यक्ति की सेवा की है, क्योंकि सेवा के बदले रुपये लेने के साथ ही सेवा का महत्व समाप्त हो जाता है । रेलवे के अधिकारियों ने जब मुफ्त सेवा के लिए लाईन नहीं बिछाई. तब उन्हें टिकट के पैसे न देना चोरी है ।

विचार कर देखो - बीस पचीस रुपयों के लिए जो लोग इस तरह की चोरी करते हैं वे भी क्या भद्र कहे जा सकते हैं ? इसी तरह के लोग खूब लम्बी-चौड़ी

बातें किया करते हैं तथा बात-बात में नेताओं की आलोचना करते हैं-कौन कितना बड़ा चोर है, कौन कितना बड़ा घूसखोर है, कौन कितना बड़ा सज्जन पुरुष है आदि । उनको यदि उनका दोष दिखा दिया जाये तो वे कहेंगे-कि अरे भाई ! इतना नीतिवादी होने से दुनिया में चलना ही मुश्किल हो जायेगा । जो अधिकारी हमलोगों के साथ इस तरह का व्यवहार करते हैं, उनके साथ ऐसा व्यवहार करना ही ठीक है । अर्थात् चोरी करना ही ठीक है । धर्म प्रचार या सन्न्यासी मुक्ति का सन्देश लेकर तथा राजनीतिज्ञ नेतागण देश का उद्धार करने का सत् उद्देश्य लेकर बिना टिकट यात्रा करते हैं-ऐसे दृश्य को तुम लोग हर रोज देखते हो । आयकर या और बहुत तरह के कर देने में फाँकी के लिए सरकारी कर्मचारियों को घूस देना या निम्न श्रेणी में यात्रा कर अधिकारियों से ऊँची श्रेणी का राह खर्च

अदा कर लेना- यह सब अधिकारियों का ठगना छोड़ और कुछ नहीं है। इसलिये यह चोरी तो है, छिछोरापन भी है।

सब चौर्यवृत्तियाँ अस्तेयनीति की विरोधिनी है । बुद्धिमान समझदार लोग भी प्रायः जान-बूझकर अस्तेयविरोधी काम कर डालते हैं, अथवा छोटी-छोटी चोरी को अस्तेयविरोधी समझना ही नहीं चाहते । लेखक के एक परिचित परिवहन कर्मचारी ने लेखक को अपने तेरह वर्ष के भाँजे के लिए पूरा टिकट व्यवहार करते हुए देख कर कहा था, आप तो इसके लिए आधे टिकट से ही काम चला सकते थे ।

कुछ ऐसे भी नीतिवादी हैं जो किसी खास व्यक्ति को तो कभी नहीं ठगते. परन्तु बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों अथवा सरकार को ठगना अपराध नहीं समझते । बहुत से दूकानदार ऐसे भी हैं जो ग्राहकों को तो मिलावट वाला घी बेचते हैं; पर अपने घर पर मेहमानों को खाँटी घी की पूड़ी खिलाते हैं। पर याद रखना चाहिए कि इस प्रकार का मनोभाव लेकर जो कुछ भी किया जाए सब अस्तेयविरोधी होगा । यम-नियम के दूसरे अंगों के समान अस्तेय में प्रतिष्ठित होने का सबसे सहज उपाय है स्वगत अभिभावन (Auto-suggestion) । यदि मनुष्य बचपन से ही इन नीतियों को मन ही मन याद करता रहे, अर्थात् मन को समझाता रहे, तो देखा जायेगा कि बड़ा होने पर प्रलोभनों के बीच रहकर भी वह अपने विचार और चरित्र का उन्नत स्तर ठीक रख सकेगा ।

सूची पत्र

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्मचर्य' शब्द का सच्चा अर्थ है ब्रह्म में विचरण करना - "ब्रह्मणि विचरणं ब्रह्मचर्यम्" । मनुष्य जब बाहरी भाव से कुछ काम करता है अथवा काम की भावना ही करता है, उस समय वह जिस वस्तु से अपने सम्बन्धित करता है, काम करता है. या काम की भावना करता है, उसे वह जड़ खण्ड वस्तु के रूप में देखता है और इस प्रकार खण्ड वस्तु की ही हमेशा साधना करने से मन खण्ड वस्तु में इतना लिप्त हो जाता है कि उसकी चैतन्य सत्ता भी जड़ता में बदल

जाती है ब्रह्मचर्य साधना का अर्थ है- जिन वस्तुओं को लेकर काम करते हैं या काम की भावना लेते हैं, उन्हें जड़ वस्तु की रूप में न देखकर ब्रह्म के ही विकाश के रूप में देखना । इससे मन एक विषय से दूसरे विषय में जाने पर भी सब चीजों में ब्रह्म भावना रहने से ब्रह्म को छोड़कर और कहीं नहीं जाता। इस प्रकार प्रेय साधना श्रेय साधना में बदल जाती है । काम प्रेम में बदल जाता है ।

बहुत लोग शुक्रधारण को ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि 'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दोनों शब्दों में से किसी का भी 'शुक्र' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है-न अर्थ का, न भाव का । इसके अतिरिक्त शरीर विज्ञान के हिसाब से भी यह महत्वहीन है । शरीर की किसी ग्रन्थि में कोई रोग न हो, या दवा के

व्यवहार से या ऐसे ही किसी विशेष प्रक्रिया से अथवा दूसरे किसी कारण से यदि शरीर विकलांग न हो जाय, तब तक ऐसा ब्रह्मचर्य पालन करना सम्भव नहीं है यह बात एकदम ठीक है कि ब्रह्मचर्य का यदि स्वाभाविक अर्थ लिया जाय. (अर्थात् सब चीजों में ब्रह्मदर्शन करना) तो मनुष्य के जीवन में संयम बहुत जरूरी हो जाता है : पर सयम का अर्थ स्वाभाविक धर्म के विरुद्ध चलना नहीं है। संयम का अर्थ हे स्वाभाविक धर्म का ठीक-ठीक पालन करना ।

किसी खास उपाय से शुक्रक्षय को एकदम रोक देना अथवा उपवास करके शुरू की अधिकता को रोक देना- इसी को साधारण तौर पर लौकिक ब्रह्मचर्य कहा जाता है। जिसका विवाह नहीं हुआ है, ऐसे लोगों के लिए तो इस प्रकार के लौकिक बह्मचर्य का (जो सचमुच में

ब्रह्मचर्य नहीं है) कुछ महत्त्व है, क्योंकि जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था में जिस काम वृत्ति के उठने से शुक्र क्षय होता है, इससे उस काम वृत्ति के उठने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती, क्योंकि शुक्र की वृद्धि न होने की कोई प्रेरणा शरीर की ओर नही होता : स्न्तु गम्भीरता से सोचने के बाट इस लौकिक ब्रह्मचर्य का मूल्य कितना है ? शुक्र की अधिकता न होना या अधिक शुक्र का क्षय न होना दोनों ही क्या एक चीज नही है ? इतना ही कहा जा सकता है कि पहली बात अविवाहितों के लिए और दूसरी बात विवाहितों के लिए अच्छी है ।

जो लोग तरह-तरह के उपायों द्वारा जबर्दस्ती शुक्र क्षय बन्द करना चाहते हैं, उनके शरीर और मन पर बुरा प्रभाव देखा जाता है। शरीर एकटम रुखा सूखा

और कठोर हो जाता है। उसमें चमक नहीं रहनी और जबर्दस्ती कामरिपु को रोकने की कोशिश करने के कारण और बाकी रिपु खासकर क्रोध रिपु बहुत उग्र हो उठता है ।

पुराने जमाने में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का स्वाभाविक अर्थ ही लिया जाता था । किन्तु बाद में समाज में जब विप्रों की प्रधानता हो गई थी, उस समय समाज के जो बुद्धिजीवी लोग पूरे शोषक हो गये थे. उनलोगों ने सोचकर देखा कि यदि धर्मसाधना जन-साधारण या गृहस्थ के हाथ छोड़ दो जाय, तब इतने दिनों का संजोया हुआ शोषण करने का हथियार किसी भी समय नष्ट हो जायेगा । धार्मिक भावनाओं की प्रेरणा मिलने से साधारण जनता में विचारने की शक्ति अधिकाधिक बढ़ेगी इसलिए साधारण जनता को सदा के लिए पंगु

करके अपने कब्जे में रखना होगा। शोषण करने के लिए लोगों के मन में पहले ही डर तथा हीनता का भाव जगा देना होगा। उन लोगों ने देखा कि शोषित जनता प्रायः सब गृहस्थ हैं, उनमें से अधिकांश विवाहित हैं। इसलिए यदि किसी प्रकार शुक्र क्षय धर्मविरोधी है, ऐसा प्रचार किया जाए तब बहुत सहज उपाय से उद्देश्य सिद्ध हो सकता है । इसका फल भी हाथोंहाथ मिल गया । गृहस्थ लोग सोचने लगे कि ये शुक्रक्षय कर बहुत अन्याय करते हैं, बहुत बड़ा पाप करते हैं और ब्रह्मचर्य नष्ट करते हैं सन्त्र्यासी शुक्र धारण करते हैं इसलिए वे श्रेष्ठ हैं। इस अवस्था से लाभ उठा कर तथाकथित सन्यासी आसानी से अपनी शोषण-लीला चलाते आ रहे हैं ।

ये सन्यासी सचमुच में नैष्ठिक ब्रह्मचारी (जो शुक्रक्षय एकदम नहीं करते) हैं या नहीं, तर्क के द्वारा इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, डाक्टरी जाँच से इसकी परीक्षा हो सकती है। परन्तु यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि इन तथाकथित सन्यासियों में से अधिकांश इस परीक्षा मे उत्तीर्ण नहीं हो सकेगे ।

स्नान, भोजन, नींद, तन्द्रा आदि की तरह विवाह भी एक प्राकृतिक चीज है । अतः इसमें निन्दनीय अथवा धर्मवरोधी कोई चीज नही है । किसी महापुरुष या उच्च साधक के लिए जब स्नान, भोजनादि मना नहीं है, तब कोई कारण नहीं कि विवाह उनके लिए निषिद्ध हो । परन्तु हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि आहार, निद्रा तथा जीवन के हर काम में संयम का होना बहुत

जरूरी है। संयम नहीं रहने के कारण ही हम रोगों के शिकार होते है। भोजन करना अच्छा है, किन्तु इसमें संयम न रहने से ही मन्दाग्नि होती है। स्नान करना अच्छा है, किन्तु इसमें संयम नहीं रहने से अर्थात् अधिक देर तक स्नान करने से सर्दी होगी ही। ठीक इसी प्रकार विवाह अच्छा है. किन्तु विवाहित जीवन में संयम नहीं रहने से शरीर और मन में तरह- तरह की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

खाना, सोना आदि स्वाभाविक कार्यों से विवाह कुछ भिन्न है. क्योंकि जीवित रहने के लिए खाना, सोना आदि जितना जरूरी है, विवाह उतना जरूरी नहीं है ।

अलग-अलग मनुष्यों के लिए इसकी जरूरत भी अलग- अलग मात्रा में होती है। इसलिए आनन्दमार्ग में विवाह के मामले में व्यक्ति विशेष को पूरी तरह से स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है । उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि जो व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रोग से पीड़ित हो या जिस आदमी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं हो या जिसकी वर्तमान अवस्था विवाह करने के लिए अनुकूल नहीं हो अर्थात्, विवाह करने से अशान्ति उत्पन्न हो सकती है, ऐसे लोगों के लिए विवाह न करना ही अच्छा है। जिन लोगों को किसी ऊँचे आदर्श को पूरा करने के लिए हमेशा काम में लगा रहना पड़ता है या जिसको मानसिक या जीवनरक्षा के कार्य में बहुत अधिक समय देना पड़ता है, वैसे लोगों के लिए साधारणतः ठीक तरह से पारिवारिक कर्त्तव्य पूरा करना सम्भव नहीं होता है। जो रोगी है या जिसकी

हालत विवाह करने लायक नहीं है, उनके लिए विवाह करना यद्यपि उचित नहीं है, पर विवाह न करने के कारण उनका छिपे रूप से पाप में लिप्त होने की सम्भावना रह जाती है। इस सम्भावना को दूर करने के लिये उनको कोई ऊँचा आदर्श लेकर उसके अनुसार काम करना चाहिए, जिससे परिश्रम करना पड़े और फिर कार्य में व्यस्त रहे । किसी वृत्ति को जबर्दस्ती दबा देने के कारण मन की अधोगति की जो सम्भावना रहती है, वह किसी ऊँचे आदर्श को पूरा करने के कोशिश से ही रोकी जा सकती है ।

पहले ही कह चुका हूँ और फिर कह रहा हूँ कि छोटे बड़े हर एक क्षेत्र में संयम मान कर ही चलना होगा। संयम का अर्थ वृत्ति की हत्या करना नहीं-वृत्ति को नियन्त्रित करना है। वृत्ति जीव का धर्म है। इसलिए

जो उनकी हत्या करना चाहते हैं उनके लिए किसी कठिन साधना क्रम को अपनाने से तो अधिक बुद्धिमानी का काम यही होगा, वे आत्महत्या का कोई आसान रास्ता अपना लें ।

जो शैव, शाक्त या वैष्णव हैं अथवा जो पुराणों को मानते हैं, उनके पास इस तथाकथित ब्रह्मचर्य का समर्थन करने के लिए

कोई युक्ति है - ऐसा नहीं दीख पड़ता । क्योंकि, उनलोगों के शिव, विष्णु, कृष्ण आदि सभी देवता-सीधी भाषा में जिसको गृहस्थ कहा जाता है-वही थे। पुराणों में उनकी स्त्रियों तथा सन्तानों के नाम लिखे हुए हैं ।

धर्म सत्य पर टिका हुआ है। 'धर्मः न सः यत्र न सत्यमस्ति । जहाँ सत्य नहीं वहाँ धर्म नहीं । ब्रह्मचर्य की इस उद्भट व्याख्या में और चाहे कुछ भी हो, परन्तु सत्य नहीं है। इसलिये उसमें ब्रह्म भी नहीं है। जो सहज सत्य है उसको मानकर ही मनुष्य को परम श्रेय की ओर आगे बढ़ना होगा। वही साधना का मार्ग है-वही धर्म का पथ है । वास्तव जीवन में जो सहज और सरल सत्य है, उसको अस्वीकार करने से मुफ्तखोर धर्म-व्यवसायियों को सम्भव है कुछ सुविधा हो, परन्तु उसके धर्म की मर्यादा नहीं बच सकती । यह सत्य का पथ नहीं, ढोंग का पथ है ।

सूची पत्र

अपरिग्रह

भोग की क्रिया में विषयीगत संयम को ब्रह्मचर्य और विषयगत संयम को अपरिग्रह कहते हैं ।

'देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः । '

देह रक्षा की आवश्यकता के अतिरिक्त किसी भोग्य वस्तु के सेवन में नही लगे रहने का नाम अपरिग्रह है। देह की रक्षा के लिए अत्र चाहिए, वस्त्र चाहिए, घर भी चाहिए। बढापे में आश्रय रहे तथा लौकिक भाव से अपने ऊपर निर्भर रहनेवालों के लिए रुपये-पैसे, जगह-जमीन चाहिए । इसलिए देह रक्षा के लिए किसको

कितना आवश्यक है, इसको निश्चित करने के लिये अनेक बातों का विचार करना होता है । सम्भव है किसी दो आदमियों की आवश्यकता एक समान नहीं होगी इसलिए किसी आदमी की कितनी कम से कम आवश्यकता है, यह निश्चित करना कठिन काम है, क्योंकि यह बात व्यक्ति पर निर्भर करती है। मनुष्य की कम से कम आवश्यकता समाज के द्वारा कुछ हद तक निश्चित कर दी जा सकती है।

जैसे कोई इतने रुपये से अधिक नहीं जमा कर सकता है, या कोई इतने से अधिक घर नहीं रख सकता है, या किसी को इतनी जमीन से अधिक नहीं रहेगी, इत्यादि परन्तु समाज सब क्षेत्रों में यह 'कम से कम' की सीमा निर्धारित नही कर सकता। जमीन-जायदाद की सीमा निश्चित कर देने पर भी खाद्यी का

परिमाण बाँध देना या माप देना सम्भव नही है । पेटू जरूरत से अधिक खाकर रोगी हो सकता है, विलासी जरूरत से अधिक विलास की चीजें खरीद कर कर्जदार हो सकता है। इसलिए व्यक्ति यदि सहयोगिता के आधार पर काम करे तो अधिक सुविधा होगी । व्यक्तिगत आवश्यकता के जिस भाग को अपने अपने विचार पर छोड़ दिया जाता है, वह भी व्यक्ति विशेष के सुखबोध या स्वछन्दता की भावना के ऊपर बहुत कुछ निर्भर करता है ।

देश और पात्र भेद से भी वह बदल जा सकता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि एक मनुष्य किसी क्लेश को खेल- खेल में सह ले सकता है और दूसरे आदमी को ऐसी परिस्थिति में डाल देने से सम्भवतः उसकी मृत्यु होगी । इसलिए इस परिस्थिति

में पहले आदमी से दूसरे आदमी का क्लेश दूर करने के लिए अधिक भोग्य वस्तु की आवश्यकता है, जो उसके लिए अपरिग्रह विरोधी नहीं है। इस सम्बन्ध में देशगत भेद भी सोचने लायक है। बैशाख के महीने में भारतवर्ष में ऊनी कपड़े की जरूरत नहीं रहती ; परन्तु ठीक उसी समय साइबेरिया में रहती है। इस विषय के कालगत भेद भी विचारणीय है प्रागैतिहासिक युग का एक साधारण आदमी की कम से कम जरूरत की सीमा थी; आज के युग के एक सीधे-साधे आदमी की जरूरत की सीमा वह नहीं है। उसका कारण यह है कि आज की दुनियाँ में भोग्य वस्तुएँ उस युग की तुलना में बहुत आसानी से मिल सकती है, आगे और भी सुविधा मिल सकेगी इसलिए अपरिग्रह की साधना करने के समय कालगत भेद को भूल जाना अव्यावहारिक होगा, एक असामाजिक मनुष्य हो। जाना पड़ेगा चीनी के युग में

गुड के गुणों का प्रचार कर, या रेलगाड़ी के युग में बैलगाड़ी का प्रचार कर, अपरिग्रह में प्रतिष्ठित होने की कोशिश का कोई अर्थ नहीं । आज की दुनियाँ में एक साधारण मनुष्य के लिए व्यावहारिक जगत में जिसके समय का मूल्य और चार पाँच आदमियों से अधिक नहीं है, हवाई जहाज पर चढ़ना जरूर अपरिग्रह विरोधी है, किन्तु रेलगाड़ी पर चढ़ना अपरिग्रह विरोधी एकदम नहीं है ।

इसलिए कह रहे थे कि किसी खास आदमी के लिए अपरिग्रह में प्रतिष्ठित करने की साधना में खास-खास क्षेत्र में मान निश्चित करके समाज सहायक तो हो सकता है परन्तु अपरिग्रह में पूरी तरह से प्रतिष्ठित होना, आदमी की अपनी कोशिश पर ही निर्भर करता है।

स्वयं अपने को तथा अपने परिवार के लोगों का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन स्वस्थ रख कर सर्वसाधारण के हित के लिए अपने भोग की साधनों को कम से कम कर देने के सीमाहीन संग्राम का नाम अपरिग्रह है ।

अपरिग्रह में भोग्य वस्तुएँ देश, काल, पात्र भेद से बढ़ेंगी, कर्मेंगी; परन्तु 'अपरिग्रह' शब्द की ऊपरी व्याख्या सब देशों में, सब कालों में तथा सब पात्रों के लिए, समभाव से प्रयुक्त हो सकती है ।

सूची पत्र

हम समाज में कैसे रहें ?

आदर्श समाज की व्यवस्था सदस्यों के पारस्परिक सहयोग तथा सामवायिक आचरण पर निर्भर है और यह सामवायिक आचरण यम-नियम की साधना पर निर्भर करता है, इसलिए साधना ही आदर्श समाज की शुभ भित्ति है-विशेष कर यम-नियम की साधना ।

हमेशा देखा जाता है कि कोई व्यष्टि यम-नियम विरोधी आचरण के फलस्वरूप, विशेषकर बिना हिसाब-किताब के खर्च के कारण, ऋणग्रस्त हो जाता है तथा इसके परिणाम स्वरूप समाज के निकट जाकर कहता है कि मुझे बचाओ। इस दिशा में मैं कहूँगा कि व्यष्टि को जैसे मिलित प्रचेष्टा के द्वारा बचाना समाज का कर्त्तव्य है. ठीक उसी प्रकार व्यष्टि के आचरण के ऊपर, यम-नियम की साधना के ऊपर तथा व्यय के ऊपर समाज का अधिकार होना चाहिए। खर्च करने के

समय किसी का मत नहीं लेना और ऋणग्रस्त होने पर सबों की सहायता लेने का मनोभाव ठीक नहीं है ।

जहाँ पर टुइड का कपड़ा पहनने से काम चल सकता है, वहाँ पर कर्ज लेकर सर्ज का कपड़ा पहनना, जहाँ सर्ज के कपड़े से काम चल सकता है, वहाँ पर गबड्डिन का कपड़ा पहनना अवश्य ही अपरिग्रह-विरोधी है । सचमुच यह बात आपेक्षिक है, अर्थात् कभी गबड्डिन खरीदने का सामर्थ्य सर्वसाधारण को हो जाये, तो वह अपरिग्रह-विरोधी नहीं होगा ।

ठीक उसी प्रकार पुष्टिकर तथा व्ययबाहुल्य बर्जित भोजन करना होगा । कर्ज से लोगों को खिलाने का अभ्यास छोड़ना होगा । इसलिए व्यक्तिगत आचरण

तथा व्यय के ऊपर समाज का अधिकार होना नितान्त आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक आनन्दमार्गी को अन्य आनन्दमार्गी के यम-नियम विरोधी आचरण देखने से अवस्थानुयायी मधुर बचन या कठोर वचन या कठोरतम व्यवहार के द्वारा उसे इस प्रकार के आचरण से निवृत्त करने तथा इस प्रकार से समाज को मजबूत करना होगा ।

आज से मैं प्रत्येक आनन्दमार्गी को निर्देश देता हूँ कि वह अन्य आनन्दमार्गी के ऊपर यम-नियम प्रतिपालन कराने के लिये कठोर दृष्टि रखे तथा खुद भी दूसरे मार्गी का निर्देश ठंढे दिल से माने ।

यहाँ यम के अपरिग्रह अंग के सम्बन्ध में मैं एक और निर्देश देता हूँ कि यदि किसी मार्गी को किसी माह में सीमित खर्च के अतिरिक्त अन्य कोई खर्च करना हो (कीमती कपड़ा, आभूषण, फर्नीचर, विवाह, गृहनिर्माण इत्यादि) इस दिशा में वे इस प्रकार खर्च करने के पहले अपने आचार्य या युनिट सेक्रेटरी या जिला सेक्रेटरी या अन्य गुरुत्वपूर्ण पदाधिकारियों से स्पष्ट आदेश लेकर खर्च करें । किसी व्यवसायी, किसी महाजन से ऋण लेने के पहले भी इस प्रकार का स्पष्ट आदेश लें । जहाँ अपना आचार्य या कोई पदाधिकारी सहज प्राप्त न हो, वहाँ अन्य कोई आचार्य या तात्त्विक या मार्ग के अन्य सुविवेचक से परामर्श तथा आदेश ग्रहण करें ।

प्रत्येक आनन्दमार्गी को इस निर्देश को पूर्णतः मानकर चलना पड़ेगा ।

सूची पत्र

नियम साधना

अष्टाङ्गयोग के पहला अङ्ग यम साधना के विषय में कहा जा चुका है । आज नियम साधना के विषय में कहूँगा । जैसे यम साधना के ब्रह्मचर्य बाकी नारी अङ्गों से अधिक श्रेष्ठ है, उसी तरह नियम साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण है ईश्वर-प्रणिधान । वास्तव में यम-नियम के बाकी आठ अङ्ग ब्रह्मचर्य और ईश्वर-प्रणिधान साधना के ही अङ्ग है विशेषता के विचार से

यम साधना मूलतः भौतिक और मानसिक जगत की साधना है और नियम साधना भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों जगत में समान भाव से महत्त्वपूर्ण है ।

शौच

नियम साधना का पहला अङ्ग है शौच । 'शौच' शब्द का अर्थ है पवित्रता, शुचिता, सफाई। यह शौच दो प्रकार का होता है। एक तो सांसारिक जगत का अर्थात् बाहरी शौच, दूसरा मानसिक जगत का या भीतरी शौन ।

"शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरन्तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥"

मिट्टी, जल या तरह-तरह की औषधियों के यथोपयुक्त व्यवहार को बाहरी शौच कहते हैं, जिनसे शरीर, कपड़े या रहने के घर आदि साफ सुधरे रहते हैं। मनुष्य जिन चीजों के सम्पर्क में प्रत्यक्ष रूप से आता है, बाहरी शौच क्रिया से उनकी गन्दगी दूर कर, उन्हें निर्दोष, निर्मल कर, व्यवहार के लायक बना लेता है ।

प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य बिना बिचारे ही सब दिशाओं से ज्ञानशून्य होकर, अपनी मानसिक शक्तियों को भोग्य वस्तुओं की ओर ले जाता है, या किसी की हानि की चिन्ता करे या न करें, अपने स्वार्थ

भाव से अपने को गिराकर रखने के अभ्यास करते-करते, अन्त में (अपने को) जड़वत् कर डालता है। उस समय मन में अनेक प्रकार की ग्लानि होती है, उनके फलस्वरूप मन में विकार उत्पन्न होते हैं। उन्हें मन का मैल कहा जाता है। उदाहरण के लिए देखो, यदि कोई परिचित व्यक्ति कभी एकाएक खूब नाम कमा ले, विद्या- बुद्धि या धन-दौलत पा ले, तो बहुत लोगों के मन में ईर्ष्या भाव जग उठता है । वह सब गुण व द्रव्यादि कमाने का सामर्थ्य स्वयं उसमें कितनी है, इसको बिना विचारे ही मनुष्य दूसरे की उन्नति देखकर मानसिक क्लेश पाता है। ऐसी उन्नति करने वाले, यद्यपि कभी भी उसकी कोई क्षति नहीं करते हैं तब भी वह हिसा वृत्ति से अन्धा हो कर उनकी हानि करने की कोशिश करता है, या इसकी चिन्ता करता है ।

जहाँ स्वार्थ बोध में बाधा पड़ती है, वहाँ की तो बात ही अलग है वैसी अवस्था में तो जो भले आदमी कहे जाते हैं, उनका मन भी बहुत जल्दी कलुषित हो जाता है। जैसे मनुष्य के घर, कपड़े आदि धूल पड़ने से थोड़े समय में ही गन्दे हो जाते हैं, उसी प्रकार एक अति साधारण प्रवृत्ति के उठने से, उससे भी कम समय में, मानस देह बहुत अधिक मलिन हो जाती है। इसलिए शरीर, घर, कपड़े आदि को साफ रखने की जरूरत है ही ; उससे भी अधिक मन को साफ रखने की जरूरत है। पर शरीर, कपड़े, घर आदि को साफ रखने में जितना अधिक परिश्रम लगता है, मन की सफाई उससे बहुत अधिक परिश्रम चाहती है।

इसलिए बुद्धिमान मनुष्य एक क्षण के लिए भी अपने मन की पवित्रता नष्ट नहीं होने देते । सदा

प्रवृत्तियों के आंधी के विरुद्ध सावधान रहना होगा । अपने को कभी भी आंधी के मुख में छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। बाहरी और भीतरी सफाई में एक यह भेद भी है कि बाहरी गन्दगी दूर करने के लिए अपने भी थोड़ी देर के लिए अशुचिता के पड्डू में उतरना पड़ता है। शरीर, वस्त्र या घर आदि की सफाई के समय, अपने भी कुछ समय के लिए अधिक गन्दी चीजों के सम्पर्क में आना पड़ता है किन्तु मानसिक शुद्धि की प्रचेष्टा में, अपने को अधिक से अधिक पवित्र रखने से ही सिद्धिलाभ होता है। ग्लानि बाहरी हो या भीतरी. उसे दूर करने के लिए, शक्ति की आवश्यकता माननी ही पड़ेगी। शक्ति के सहयोग के द्वारा. ग्लानि को मूल वस्तु से दूर कर, मूल वस्तु के स्वरूप को पहचान लेना होगा । खाद को पृथक करके ही असली सोने का वजन जाना जाता है। यह शक्ति सम्प्रयोग निश्चय ही एक

विशेष प्रकार की क्रिया है । इसलिए कहना पड़ेगा कि बाह्य शौन बाहरी क्रिया है और मानसिक शौन भीतरी क्रिया है ।

जो क्षुद्र स्वार्थबोध मानसदेह के गोर-पोर में घुम कर उसमें विवर्णता लाता है, उसे बहुत ही भारी बोझ बना देता है, उसी क्षुद्र स्वार्थ की ग्लानि को दूर करने के लिए, उसे साधना की अग्नि में भस्मसात कर देना होगा। यह साधना होगी क्षुद्र स्वार्थगत साधना के ठीक विपरीत, अर्थात् यह साधना ऐसी होनी चाहिए, जिससे मन के प्रत्येक रन्ध से अपवित्रता की बची-खुनी ग्लानि और कालिमा भी बाहर होने को बाध्य हो जाय । निःस्वार्थ भाव, विश्व में एकत्व की भावना ही मानसिक अपवित्रता दूर करने की एकमात्र औषधि है

जिस आदमी को जिस चीज के प्रति जितना अधिक लोभ या मोह होगा, वह उस नीज के विषय में उतना ही विपरीत भावना लेकर, धीरे-धीरे स्वार्थसंजात मानसिक क्लेश से छुटकारा पा सकता है । जिसको धन आदि का लोभ प्रबल रहता है, उसके लिए धीरे-धीरे दान करने का अभ्यास बढ़ाना उचित होगा और उसी अभ्यास के माध्यम से वह जनसेवा कर सकता है। जिसमें क्रोध या अहंकार प्रबल है, उसे विनयी होने का अभ्यास बढ़ाना उचित होगा और उसी अभ्यास के माध्यम से जनसेवा करे। निःस्वार्थ भाव से जनसेवा तथा भूमा दृष्टि से संसार को देखने की नेष्टा के माध्यम से मनुष्य मानसिक शौन में प्रतिष्ठित होता है ।

मनुष्य में दूसरों से लेने की इच्छा तो अनन्त है। उसकी आशा किसी प्रकार मिटना नहीं जानती । पर दूसरों को देने की इच्छा एकदम कम । साधारणतः मनुष्य जब भी दूसरों को कुछ देता है, तव अधिकतया उसमें देने की या सेवा की भावना तो एकदम गौण रहती है, मुख्य भाव रहता है दान के बदले प्रतिदान पाने की इच्छा का अथवा दाहिने हाथ से दान करता है और बाएँ हाथ से यश लूटने का उग्र लोभ रखता है। इसलिए लोभ की इस वृधिक ज्वाला से बचने के लिए साधक को इसके विपरीत भाव का अनुशीलन करना होगा. अर्थात् किसी दूसरे से कुछ भी लेने की तिल भर भी इन्छा न रखते हुए देने की ही अनन्त इच्छा रखनी होगी। छोटे मैं के क्षुद्र पिंजड़े का द्वार तोड़ कर मन को उन्मुक्त अनन्त आकाश की नीलिमा में अधिष्ठित करना होगा ।

"नील आकाशे असीम छेये, छड़िये गेछे चाँदेर आलो ।
आबार केन घरेर भेतर आबार केन प्रदीप ज्वालो ।।"

तुमने निश्चय ही ध्यान दिया होगा कि बहुत से लोग दुख पड़ने पर कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को हमने विपत्ति के समय इतनी सहायता की, रोग में इतनी सेवा की, फिर भी देखो वह कितना कृतघ्न है कि आज जब मेरा दुर्दिन आया है, तब हमारी ओर मुड़कर भी नहीं देखता। इतना ही नहीं, अभिशाप देता हुआ भी कह डालता है- भगवान सब देखते है, सब कर्म का फल उसको भोगना ही होगा। मनुष्य प्राय: ही ऐसी बातें कहा करता है। समझ लो, इस तरह की उक्तियाँ मानसिक नीचता की अत्यन्त कुत्सित

अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के लोगो ने कभी मानसिक शौच के लिए साधना नही की. इन लोगों ने किसी दुर्दिन में या रोग में सेवा नहीं की, असल में इन लोगों ने मनुष्य की दुरवस्था का सुयोग पाकर मनुष्य को थोड़ी कुछ सहायता अग्रिम (Advance) स्वरूप दी थी- यह सोनकर कि बाद में सहायता पूरे सूद-ब्याज समेत वसूल करूँगा ।

प्रश्न किया जा सकता है कि इस शौच साधना के लिए मनुष्य कितना दान करेगा ? वह क्या अपने को पूरा बेच डालेगा ? इसका उत्तर यह है कि जहाँ सेवा ही लक्ष्य है, वहाँ अपरिग्रह के भाव को ध्यान में रखकर अपना तथा अपने ऊपर निर्भर करने वालों (Direct dependants) की आवश्यकताओं को देखते हुए. जहाँ तक नहीं रखने से काम चलेगा, उतना

रखकर बाकी सब कुछ विश्व के सामूहिक कल्याण में लगा देना होगा।

किन्तु, जहां कोई आदर्शगत संग्राम आ जाय, वहाँ अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपना शरीर भी सामूहिक स्वार्थ के लिए बलि देने को सानन्द और साग्रह तैयार रखना होगा। जिसके घर में अन की प्रचुरता नहीं है, वह घर के लोगों को खिलाने के लिए कुछ अन रखकर ही, बाकी गरीबों को दे । यहाँ घर वालों की जरूरत देखना संकीर्णता या नीचाशयता नहीं है, क्योंकि सामाजिक जीवन में, या आज के वास्तविक जगत में, केवल जीवित रहना यद्यपि अन्तिम लक्ष्य नहीं है, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवश्य है । किन्तु जहाँ संग्राम पूर्ण रूप से आदर्शगत हो, वहाँ हार मान लेने का अर्थ है, सदा के लिए घोर में निमग्न हो जाना। ऐसी

अवस्थाओं के लिए सशस्त्र सैनिक की तरह मन को अपने आदर्श की जय के लिए अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए सदा तैयार रखना होगा ।

सूची पत्र

सन्तोष

'तोष' शब्द का अर्थ है मन के आराम की अवस्था और सन्तोष का अर्थ हुआ सम्यक रूप से आराम । साधारण अवस्था में, मनुष्य का मन अधिक आराम या तृप्ति नहीं पाता है । जहाँ मन भोगाभिमुखी वृत्ति लेकर कुत्ते की तरह जड़ की ओर दौड़ता है, वहाँ किसी भी तरह तृप्ति पाना सम्भव नहीं है और क्रमविश्लेषण

के फलस्वरूप उसकी भोग्य वस्तुओं की संख्या भी क्रमशः बढ़ती ही जाती है इसलिए उसका (मन का) दौड़ना भी बन्द नहीं होता । इस अवस्था में वह क्या करे कि उसे विस्तृत आराम मिले ? इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति से एकाध घंटे के लिए कुछ आराम मिल सकता है पर उसके बाद मन उसे पीछे कर कही दूसरी ओर भागना चाहेगा और बहुत दिनों की उसकी इच्छित वस्तु की भी सारी मिठास नष्ट हो जायगी । यही तो नियम है। यही तो स्वभाव है ।

मनुष्य की क्षुधा का अन्त नहीं है। लाखपति करोड़पति बनना चाहता है, क्योंकि वह लाख रुपये पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता । करोड़पति से पूछो क्या रुपये पाकर वह सुखी है ? वह कहेगा कि "रुपया कहाँ है, किसी प्रकार दिन काटा जा रहा है।" यद्यपि इनसे

अपरिग्रह बोध का अभाव ही मालूम होता है. फिर भी यह अपरिग्रह विरोधी भाव, देह और मन के ऊपर एक ही प्रकार का बुरा प्रभाव डालता है । शरीर व मन को अत्यधिक लोभ लालसा में उन्मत्त होकर, मनुष्य उन्माद जैसा अर्थोपार्जन या धन संचय में लगा रहता है और उसके फलस्वरूप रुपया ही जीवन का सर्वस्व हो जाने के कारण, मन जड़ हो जाता है और दीर्घकाल की अवज्ञा के कारण, शरीर अपटु हो जाता है। इसलिए स्वाभाविक परिश्रम से अर्थात् शरीर या मन के ऊपर उसके सामर्थ्य से अतिरिक्त बोझ न देकर जो धन या सम्पत्ति उपार्जित की जाती है, उससे ही तृप्त रहने का नाम सन्तोष साधना है इस प्रकार तृप्त रहने की प्रचेष्टा के क्रम मनुष्य को एक विशेष प्रकार की मानसिक प्रचेष्टा में लगा हुआ रहना पड़ता है– जो

प्रचेष्टा उसे सदा ही अतिलोभात्मक कार्यों से दूर रहने में सहायता करती है ।

तुम जानते हो कि मन को किसी भी वृत्ति से दूर हटाने के लिए, दो ही प्रक्रियाएँ विशेष फलप्रद हैं। एक स्वगत अभिभावन (Auto-suggestion) और दूसरा परगत अभिभावन (Outer-sug- gestion)। जिसका मन जिस हीन वृत्ति में लगा रहता है, वह यदि ठीक उसी वृत्ति की विरोधिनी भावधारा को मन ही मन सदा जपता रहे तो उसके भाव में परिवर्तन आना आवश्यक है। इसी को स्वगत अभिभावन कहते हैं और यदि कोई किसी के कान में बार-बार उसी प्रकार की बात सुनाता रहे तब भी उसके स्वभाव में परिवर्तन आता है । इसी को परगत अभिभावन कहते हैं। सन्तोष साधना में

साधक हर समय इस स्वगत अभिभावन की सहायता लें ।

सन्तोष साधना का उद्देश्य यह नहीं है कि कोई तुम्हें किसी प्रकार ठग ले, या तुम्हारे सीधेपन का सुयोग पाकर तुम्हारे ऊपर करे और तुम मुँह बन्द करके उसको सह लो । अपने अस्तित्व की रक्षा का अपना अधिकार, अपने न्यायोचित भावना का त्याग करना, कभी भी उचित नहीं है। जीवन के सब क्षेत्रों में अधिकार की प्रतिष्ठा के लिए तुम्हें सदैव मिलित रूप से संग्राम करते रहना होगा । किन्तु कभी भी अति लोभ के वश में होकर अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति को नष्ट कर सन्तोष भाव के विरुद्ध मत जाओ ।

सूची पत्र

तपः

'तपः' शब्द का अर्थ है मन्त्र सिद्धि के लिए कृच्छ्र साधना । शौच साधना के लिए तुम्हें जन हितार्थ क्लेश सहन करना ही पड़ेगा, ऐसा कोई आवश्यक नहीं। जो लाखपति है, उसके लिए दस रुपये दान करना जरा भी कृच्छ्र साधना नहीं है। इसलिए तपः भी नहीं है. किन्तु दस रुपये दान करना उसके मानसिक शौच विधान में सहायक है । तपः साधक और तापस की यही तो तपस्या है-स्वेच्छा से क्लेश स्वीकार करना। इसके पीछे एक ही उद्देश्य होगा और वह होगा अपने कन्धे पर

क्लेश तथा दुःख का बोझ लेकर, दूसरे को दुःख से, क्लेश भाव से, छूटकारा देना तथा दूसरे को आराम से रखना ।

शौन साधना के समान ही तपः साधना में भी, तिल भर भी व्यावसायिक मनोभाव अनुचित है। शूद्रोचित सेवा प्रायः तपः के अन्दर गिना जा सकती है। इसलिए जो शूद्रत्व से डरता है, शूद्र से घृणा करता है, उसके लिए तापस होना कभी भी सम्भव नहीं है । एक रोगी कष्ट से छटपटा रहा है, उसके आराम के लिए यदि तुम घंटो उसकी सेवा करो, वह हुआ 'तपः' । किन्तु यदि तुम स्वार्थ के मनोभाव से सोचो कि हमारे दुर्दिन में यह भी हमारी सेवा करेगा, तब एक मुहूर्त में ही तुम्हारी सारी तपस्या नष्ट हो गई। इस प्रकार तपः साधना, शरीर और मन को स्वार्थ बोध के बाहर ले

जाता है । स्वाभाविक नियम से तपः साधना से मानसिक व्यापकता आयेगी ही और इस व्यापकता में साधक को ईश्वर-प्रणिधान की सिद्धि में विपुल सहायता मिलेगी । तपः साधक जानता है कि सेव्य उसके ही इष्ट है. सेव्य उसके ही ब्रह्म हैं। वह सेवक है और सेवा ही उसकी साधना है । सेव्य की जाति, कुल, वर्ण, धर्म, देश या मत विचार कर जो सेवा के लिए तत्पर होते हैं, उनकी तपस्या भी व्यर्थ होती है. क्योंकि इस प्रकार के अधिकांश साधकों में, मानसिक उदारता का अभाव होने के कारण सेवा भी ठीक निष्ठा के साथ करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता । जो सेव्य को ब्रह्म का विकाश मात्र देखते हैं, उनके आराम के लिये निःस्वार्थ भाव से लगे रहते हैं, बहुत थोड़े समय में ही उनके भीतर ब्रह्म प्रेम या भक्ति जग उठती है और

जहाँ प्रेम जग गया, जहाँ भाव स्फूर्त हो उठा, वहाँ और बाकी क्या रह गया ?

इस तपः साधना में ज्ञान अथवा विचार का कितना स्थान है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । वास्तव में शौच साधना के अङ्ग के रूप में जन सेवा में ज्ञान की जितनी आवश्यकता है, तपः के अंगस्वरूप जनसेवा में ज्ञान की आवश्यकता उससे बहुत अधिक है। ज्ञान वर्जित होने से तपः का अपव्यवहार होगा ही । सुविधावादी तुम से काम निकाल कर एक तरफ तुम्हारी शक्ति का अपव्यय करायेंगे, दूसरी तरफ जो सचमुन दुखी हैं, उन्हें तुम से जो सेवा प्राप्त होती उससे वंचित कर देंगे ।

यदि कोई कंजूस तुम्हारे पास आकर अपना दुखड़ा रोये, गिड़गिड़ाये और उसका दुःख-कष्ट दूर करने के लिए तुम उचित परिश्रम करो, उसके लिये रुपये-पैसे से या शरीर से सेवा करने की व्यवस्था करो, तो वहाँ तुम्हारा तप ज्ञान और विचाररहित होने के कारण व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि पहली बात तो यह होगी कि जिस कंजूस धनी की तुम सेवा करोगे वह और अधिक कंजूस और स्वार्थी हो जायेगा और बाद में सेवाव्रती लोगों को और भी ठगने की चेष्टा करेगा, दूसरा उसके स्वरूप कुछ न कुछ जान लेने के कारण तुम्हारे मन में भी एक प्रकार की ग्लानि उत्पन्न होगी, उसके प्रति तुम्हारे मन में कुछ शत्रुता का भाव जग जायेगा। इसीलिए तपः का अनुशीलन करने के समय यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये कि तुम जिसकी सेवा करने जा रहे

हो, उसे सचमुच तुम्हारी सेवा की जरूरत है कि नहीं और यह जानकर ही सेवा के काम में लगना चाहिए ।

तप की साधना के समय सदा ही नीचे की ओर देखना चाहिए, ऊपर की तरफ नहीं । जो तुम से दुर्बल है, तुम से दरिद्र है, तुम से अशिक्षित है, भोले और अवहेलित है, उनके लिए ही तुम पर अधिक भार है, उत्तरदायित्व है जो तुम से ऊँनी श्रेणी के लोग हैं, अर्थात् तुम से अधिक धनी हैं, अधिक शक्तिशाली हैं, उनके लिए तुम्हारा दायित्व बहुत कम है। इसलिए कहाँ तुम्हारी जबावदेही कितना है, यह ज्ञान की सहायता से जान लेना होगा, नहीं तो तपः में लगाया गया समय, सामर्थ्य, परिश्रम सब पानी हो जायेगा ।

धनिकों को भोज देने में क्या लाभ ? दाने-दाने के मुहताज गरीबों को अत्र दो । ऊपर के लोगों के घर में डाली पहुँचाने से, भेंट चढ़ाने से लाभ नहीं । गरीब रोगियों के घर पर दवा और पथ्य पहुँचाओ । धनी सम्पन्न लोगों की खुशामद में समय नष्ट करने से लाभ नहीं, जो विपत्र हैं, दुखी हैं, उनके मन को अपनी सहृदयता की मिठास से जीत कर, उन्हें अपने समाज की श्रेणी में ऊपर उठा लो । ज्ञान रहित तप के द्वारा तुम ब्रह्म को नहीं पा सकते, क्योंकि

वहाँ तुम्हारी वस्तु का उपयुक्त व्यवहार नहीं होता । परन्तु यह बात भी ठीक है कि कुछ न करने से कुछ करना ही अच्छा है । इस दृष्टि से ज्ञानवर्जित तप भी अच्छा है बुद्ध ने कहा है-

"जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलीकवादिनम् ।"

कंजूस के सामने अपना दान दिखा कर उसे प्रभावित अवश्य किया जा सकता है, परन्तु इसे ठीक अर्थों में तपः नहीं कह सकते ।

तप की एक और विशेषता है और वह यह है कि मनुष्य में जब तक ज्ञान का अभाव रहता है, तब तक वह अपनी कार्यशक्ति को प्रवृत्तिमूलक कार्यों में ही लगाता है। ज्ञानयुक्त तपः इस कर्मधारा को मोड़ देता है, उसे निवृत्ति की ओर घुमा देता है । भक्ति से भी ज्ञान का उदय होता है, किन्तु यह भक्ति उसके हृदय में जगना असम्भव है जिसने अपने अन्दर उस परम प्रभु की कृपा नहीं पाई है।

सूची पत्र

स्वाध्याय

किसी जटिल आध्यात्मिक तत्त्व को अच्छी तरह मूल तक समझ लेने को ही 'स्वाध्याय' कहते हैं। प्राचीनकाल में ऋषियों के आश्रमों में शिक्षार्थी इसी प्रकार अपना दैनन्दिन स्वाध्याय किया करते थे । किन्तु अब अवस्था उलट गई है । काल की कुटिला गति से आज 'स्वाध्याय' शब्द भी अपना तात्पर्य खो बैठा है । आज बिना अर्थ समझे ही शास्त्रों का पाठ करने से ही स्वाध्याय हो जाता है । धर्म के व्यवसायियों ने बता दिया है कि किस पुस्तक के पाठ का क्या फल है-अर्थ समझो या मत समझो। अर्थ समझना कोई बड़ी बात नहीं । इतना ही क्यों, पुस्तक

पढ़ने का समय यदि नहीं मिले तो भो कोई बात नहीं दो तीन बार पुस्तक को सिर लगाओ अथवा हरि कथा सुनने या समझने का समय या सामर्थ्य नहीं हो, तो देवोद्देश्य में कुछ फल, बतासा या कुछ पैसे निवेदन कर देने से ही फल मिल जायेगा । जो कुछ भी हो, असल बात से तुम्हें काम है ।

स्वाध्याय का अर्थ केवल पढ़ कर समझना ही नहीं है। स्वाध्याय का अर्थ है शब्दों का गूढार्थ समझ लेना । लौकिक अर्थ मात्र लेने के फलस्वरूप शाक्त और वैष्णव साधनाओं में यथेष्ट पापाचार, मलिनता आ गई थी, और अन्त में उससे जनसाधारण की 1 धार्मिक चेतना को बड़ा आघात पहुँचा था। जैसे तन्त्र के पंचम' कार साधना का अंग मांस साधना को लो। यह मासं साधना क्या है-

"मा शब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये ।

यस्तु तद् भक्षयेन्नित्यं स एव मांस साधकः ॥"

(तन्त्र)

अर्थात् 'मा' शब्द का अर्थ है जिह्वा और 'मांस' शब्द का अर्थ है जिह्वा का कार्य--वचन । जो साधक इस वचन का रोज भक्षण करता है अर्थात् वाक् संयम का अभ्यास करता है वही मांस साधक है । कितना सुन्दर अर्थ हुआ किन्तु लौकिक अर्थ लेने वाले इन्द्रियपरायण लोग मांस साधना के निमित्त निरीह बकरे का बध करने में जरा भी नहीं सकुचाते । खाने वाले जितने लोग हों, उनकी संख्या अनुरूप बलि के लिए बकरों की संख्या निश्चित की जाती है। हाय रे साधना !

शास्त्र की उक्तियों का गूढार्थ समझने के लिए पहले वाक्य का भाव अच्छी तरह समझ लेना पड़ता है, नहीं तो उससे अर्थ निकाल सकना सम्भव नहीं यदि कहा जाए "शोण्डिकः सुरालयं गच्छति" तो स्वाभाविक नियम से सुरालय का अर्थ लेना होगा आसव- विपणी- सुरा की दूकान । किन्तु यदि कहा जाय "नारदः सुरालयं गच्छति" तो यहाँ सुरालय का अर्थ मद्यालय, शराब की दूकान लेने से भूल होगी । यहाँ सुरालय का अर्थ सुरा का आलय नहीं, सुरों का आलय अर्थात् स्वर्ग से लेना होगा । इस तरह समझ सकते हो कि स्वाध्याय के लिए कितनी सतर्कता की आवश्यकता है। स्वार्थी लोग अपना-अपना शोषण कायम रखने के लिए जन-साधारण को गूढ़ार्थ से सदा दूर रखना चाहते हैं ।

सूची पत्र

ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं: पर शब्द का साधारण अर्थ है नियन्ता । जो इस विश्वकल्पना का नियन्त्रण करते हैं. वे हैं ईश्वर । इसलिए 'पुरषोत्तम' और 'ईश्वर' शब्द से एक ही तत्त्व नहीं समझा जाता है। दार्शनिक भाषा में 'ईश्वर' शब्द का एक और अर्थ समझा जाता है । तमः प्रधाना प्रकृति के अभिमानी पुरुष जो कारणार्णव के हैं, जो प्राज्ञ के भूमाभाव हैं, वे हैं ईश्वर । सब बन्धनों से मुक्त पुरुष को दार्शनिक भाषा में ईश्वर कहा जाता है ।

"कर्मक्लेशविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।"

छोटा-मोटा दार्शनिक मतभेद चाहे जो भी हो, पर साधक की दृष्टि से ईश्वर सगुण ब्रह्म या भगवान को छोड़ कर कुछ भी नहीं है।

'प्रणिधान' शब्द का अर्थ है अच्छी तरह समझना या किसी को अपने आश्रय के रूप में अपनाना । इस तरह ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ हुआ ईश्वर भाव में अपने को स्थित करना, ईश्वर को जीवन के एकमात्र आदर्श के रूप में ग्रहण करना । पांचभौतिक तत्त्वों से बनी हुई तुम्हारी यह स्थूल देह ईश्वरीय कल्पना के संचर और प्रतिसंचर भाव के विरुद्ध नहीं जाती है बल्कि तुम्हारा मन जाता है, इसी कारण जीवात्मा की अधोगति होती है, क्योंकि जीवात्मा मन में ही

प्रतिबिम्बित होता है । इसीलिए ईश्वर-प्रणिधान है मन को उस परमाश्रय में प्रतिष्ठित करने के लिए उसकी ओर ललक कर ले चलना । अतः ईश्वर-प्रणिधान पूरा भावाश्रयी है, पूर्णतया एक मानसिक चेष्टा है । इसमें गला फाड़-फाड़कर चिल्लाकर लोगों की 'भीड़ जमा करने का या झाल, मृदंग बजाकर भक्ति दिखाने का अवकाश ही नहीं है। तुम्हारे ईश्वर बधिर नहीं हैं। तुम अपने मन की भाषा उसे चिल्ला कर मत सुनाओ ।

ईश्वरीय भाव लेने के लिए पहले मन को जागतिक प्रपंच से हटा लेना होगा । तब अपने क्षुद्र अहंभाव, छोटे मैंपन को स्वार्थ भावना से मन को हटा कर, उसके बाद विन्दुभूत मन के सामने उस विराट का भाव लाकर अपने संस्कार के अनुरूप वर्ण प्रतिष्ठ मन्त्र में उसका भाव लेना होगा। वे हैं सहज सत्ता, इसीलिए

केवल भाव में ही उन्हें पाया जा सकता है, और कहीं नहीं ।

जप के तीन प्रकार हैं-वाचनिक, उपांशु और मानसिक । वाचनिक जप अर्थात् ऊँचे स्वर से पुकार कर उनकी दृष्टि अपनी ओर खींचने की चेष्टा करना एकदम बेकार है। श्रद्धा-प्रेम, निष्ठा-भक्ति भीतर की चीजें हैं। खुशामदी लोगों की बँधी-बँधायी भाषा में चीख पुकार कर व्यक्त करने की चीज नहीं । इसलिए वाचनिक जप अर्थहीन है। तब हाँ, आन्तरिक भाव का आनन्द जब मुख खोल कर व्यक्त करने की इच्छा जग जाती है, वहाँ ब्रह्म सम्बन्धी तथ्य सरल भाषा में श्लोकों या गान के रूप में व्यक्त किया जा सकता है : दृष्टान्त के रूप में "ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय मन्त्र याद पड़ता है। ऐसे मन्त्र बड़े अच्छे हैं; किन्तु

इनसे जप का या ईश्वर- प्रणिधान का काम नहीं चल सकता है ।

जहाँ अस्फुट स्वर से ओठों में ही मन्त्र उच्चारित होते हैं, वहाँ उपांशु जप कहा जाता है । यद्यपि यह जप वाचनिक जप से अच्छा है, परन्तु आदर्श जप कहलाने योग्य नहीं । ईश्वर-प्रणिधान में मानसिक जप ही श्रेष्ठ है। जिसका भाव मन लेता है उस भाव का उच्चारण भी मन ही करेगा । मन ही उस भाव की बात सुनेगा यह मानसिक जप उपयुक्त पात्र के पास यथाविधि सीख कर नियमित रूप से यथाविधि अभ्यास करने पर कुछ ही दिनों में मन एक दिशेष धारा प्रवाह में अग्रसर होता प्रतीत होगा । ब्रह्म के प्रतिसंचर पथ को लेकर यह अग्रगति होती है। तब प्रतिसंचर पथ से जिस मानस गति से वे कल्पना समूह को पूर्णता की

ओर ले जा रहे हैं, ईश्वर- प्रणिधान से प्राप्त साधक की मानस गति का वेग उससे भी अधिक द्रुतगति से होता है ।

जब साधक का मन ब्राह्मी कल्पना के प्रतिसंचर पथ पर अग्रसर होता है, उस समय उसके देह में स्थित शिवत्व की सम्भावना से युक्त जीव-शक्ति भी सब वृत्तियों, सारे संस्कारों से ऊपर उठ कर दिव्यलोक की दिशा में आगे बढ़ती रहती है। इस अवस्था में साधक के मन-प्राण ब्रह्म के प्रतिसंचर के स्पन्दन में स्पन्दित होते रहते हैं, ऊर्ध्वतर ग्रन्थियों के अव्यक्त दिव्य गुणसमूह प्रकट होते हैं और मन का स्पन्दन स्नायुजाल को स्पन्दित करता हुआ देह से भी सात्त्विक लक्षण प्रकट करता है। स्नायुगत कारणों से जिसकी देह से ये सात्त्विक लक्षण प्रकट नहीं होते,

उनकी देह की कई ग्रन्थियों में, मानसिक स्पन्दन के कारण, गुरुतर परिवर्तन हो जाते हैं। ये सात्त्विक लक्षण या भाव मूलतः आठ प्रकार के हैं-स्तम्भ, कम्प, स्वेद, स्वरभंग, अश्रु, रोमांच, वैवर्ण और प्रलय । इन महाभावों के और भी कई आनुसंगिक भाव हैं-नृत्य, गीत, विलुण्ठन, क्रोशन, हुंकार, लालास्राव, जृम्भण, लोकापेक्षात्याग, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का, तनुमोटन और दीर्घश्वास ।

वाचनिक और उपांशु जप में इस प्रकार के लक्षण प्रकट होने की सम्भावना एकदम कम रहती है। जिसने साधना का ठीक-ठीक क्रम जान लिया है या पा लिया है, उसमें इस प्रकार के लक्षणों का प्रकट होना एकदम स्वाभाविक है। इसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं-

आनन्द है । इस कारण जो साधक नहीं है, उन्हें इनसे बृथा भयभीत होना उचित नहीं

जब सात्त्विक लक्षण प्रकट होते हैं, उस समय साधकों को भी सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करना चाहिए। भावग्रस्त अवस्था में यदि साधक भाव लक्षणो को प्रकट करने की ओर दृष्टि ले जाता है, तो उसकी अग्रगति में बाधा पड़ती है। वह यदि भाव लक्षणों को दबा कर रखने की कोशिश करे, तो उसका भाव ही नष्ट हो जायेगा। सबसे बड़ी बात है ब्राह्मी भाव। इसी पर ध्यान रखना चाहिए, भाव लक्षणों की ओर दृष्टि ले जाकर व्यर्थ समय नष्ट करना बुद्धिमान का काम नहीं है ।

ईश्वर भावना के मन से हटने के साथ-साथ ये भी सात्त्विक लक्षण तिरोहित हो जाते हैं। साधक जब ईश्वर भावना में दीर्घ समय के लिए प्रतिष्ठित होने में सक्षम होता है, तब ये भाव केवल मानसिक देह में क्रियाशील होते हैं और स्थूल देह बहुत कुछ शान्त हो जाती है ।

साधना का अन्यान्य अंगों का निर्जन में, अकेले अकेले अनुशीलन करना वांछनीय है, किन्तु ईश्वर-प्रणिधान अकेले तथा मिलित दोनों प्रकार से किया जा सकता है। मिलित ईश्वर-प्रणिधान में सबकी सामूहिक मानसिक प्रचेष्टा एक साथ काम करना आरम्भ कर देती है, इसलिए उन्नत भाव लक्षण भी अत्यन्त अल्प काल में ही जग उठते है । इसलिए दूसरी साधनाओं की तरह ईश्वर-प्रणिधान भी अकेले अलग-अलग तो

करो ही, इसके अतिरिक्त जब कभी कुछ लोग सुविधा से मिल सकें, तो मिलित ईश्वर-प्रणिधान कर लेने का सुअवसर हाथ से मत जाने दो । मिलित ईश्वर-प्रणिधान के फलस्वरूप जो दुर्दमनीय मनःशक्ति जग उठती है, वह पृथ्वी की छोटी बड़ी किसी भी समस्या के समाधान में तुम्हारी सहायता करेगी । इस कारण साप्ताहिक धर्मचक्र में नियमित रूप से भाग लेने के लिए सदा सचेष्ट रहो ।

आनन्द पूर्णिमा, १९६३

साधना

प्रतिदिन कम से कम दोनों बेला पूर्ण ईश्वर - प्रणिधान करना ही होगा। स्वस्थ हो या अस्वस्थ, सो कर या बैठ कर ईश्वर-प्रणिधान करो।

प्रातःकालीन तथा संध्याकालीन ईश्वर- प्रणिधान नहीं करने तक आहार ग्रहण नहीं करोगे । विशेष कार्य में व्यस्त रहने पर अस्सी बार जप करके आहार ग्रहण करोगे ।

समाप्त

**********X**********

[यह लेखन पीछे का कवर पन्ना में है।]

मनुष्य के गतिपथ का सबसे मूल्यवान साधन है साधुता, सरलता और तेजस्विता । जीवन के किसी स्तर में साधुता की मर्यादा को क्षुण्ण होने मत दो । धर्मरक्षार्थ संग्रामकाल के अतिरिक्त अन्य किसी अवस्था में कूटनीति या असरलता को प्रश्रय नहीं दोगे अर्थात् अन्य समस्त क्षेत्रों में दण्डवत् प्रणाम के समान स्वयं को सरल रखो और लक्ष्य रखो कि तुम्हारी तेजस्विता की अग्नि किसी भी अवस्था में पांशुपुञ्ज से तनिक भी ढंक न सके । भावजड़ता [डॉगमा] में साधुता, सरलता और तेजस्विता - इन तीनों में कोई भी नहीं है। अतः उसका कठोर रूपेण परिहार करके चलो ।

-श्रीश्री आनन्दमूर्ति

घोषणा

लिंग, जाति, पंथ, धर्ममत, अमीर , गरीब आदि को विचार किए बिना सभी मनुष्यों को आध्यात्मिक साधना सीखने , अभ्यास करने और आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त करने का समान अधिकार है। अध्यात्मिक साधना विज्ञान को 'योग' भी कहा जाता है। योग के ज्ञान का कभी भी व्यावसायिक उद्देश्य के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। इसका वितरण नि:शुल्क होना चाहिए। यह साधना कोई भी आदमी "आनंद मार्ग प्रचारक संघ" के सन्यासियों और सन्यासिनीयों से किसी भी समय, नि:शुल्क सीख सकता है।

मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य परम शांति या आनंद का अनुभव करना है। केवल ईश्वर प्राप्ति के द्वारा ही आनंद प्राप्ति कर सकता है। योग साधना से ही ईश्वर प्राप्ति संभव है; और कोई रास्ता नहीं है।

सूची पत्र